Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 SHISRRJ | Volume 5 | Issue 3 | ISSN : 2581- 6306

दलित विमर्श के साहित्यिक–संदर्भ

डॉ0 विवेक सिंह
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, कमला नेहरू पी0जी0 कॉलेज, तेजगॉव, रायबरेली।

Article Info
Volume 5, Issue 3
Page Number : 204-208

Publication Issue :
May-June-2022

Article History
Accepted : 01 May 2022
Published : 30 May 2022

शोधसारांश– हिन्दी साहित्य में नागार्जुन, रेणू, नेमिशराय, नरेश मेहता, सुखलाल, जय प्रकाश कर्दम जैसे नाम 'मैं भंगी हूँ' 'बलचमा', छप्पर, जूठन अपने अपने पिंजड़े, शबरी कृतियों के साथ चर्चित हैं सतींद्र सिंह, गुरूदयाल सिंह, प्रेमगोरखी इन पंजाबी हस्ताक्षरों के संग बुदण्ण हिमगिरे, इनाम अवलिका, रंगनायकम्प, ओ0पी0 विजयन नम्बुदिरिका जैसी प्रतिभाएँ कर्नाटक, उड़िया, मलयालम दलित साहित्य में सक्रिय हैं। सदियों से नकारे गये, आदिवासी बहुजनों का दलित साहित्य मंगलमयी मूल्यों तथा सत्याभिव्यक्ति के कारण भारत एवं भारतेतर देशों के साहित्य में सम्मानित हो रहा है युगीन प्रवृत्तियों को परिलक्षित और उन्हें मानवता की ओर प्रवृत्त कर रहा है यही इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

मुख्य शब्द– दलित, विमर्श, साहित्यिक, आदिवासी, सत्याभिव्यक्ति।

की चकाचौंध और प्रतिगामी राजनैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के कारण आज समाज समरसता के 'अखण्ड आनन्द' को भुलाकर सर्वतोभावेन विखण्डन की भावना द्वारा भारत के भाग्य–निर्माण में संलग्न है। अधिक दूर न भी जायें तो भी स्वतंत्रता पूर्व का सामाजिक सामरस्य आज विखण्डन की अनेकमुखी धाराओं में विभक्त होकर भारतीय लोक–मानस में प्रविष्ट हो गया है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि स्वतंत्रता पूर्व के सामाजिक सामरस्य में विभेद के अणु विद्यमान नहीं थे लेकिन आज विखण्डन की भावना ने भारतीय समाज की सत्ता को खण्ड–खण्ड कर दिया है। राष्ट्रीय अस्मिता के प्रतीक शीर्ष कर्णधार भी बँट गए। नेताओं के जन्म तथा पुण्य तिथि समारोहों के आयोजक, वक्ता व स्रोता; जिनका प्रायः सभी समाचार पत्रों में उल्लेख होता रहता है; लगभग एक ही जाति या समूह के लोग होते हैं। ऐसे समारोहों में स्वनामधन्य नेताओं का सम्बन्धित जाति के गौरव के रूप में चित्रण किया जाता है मानों उन्होंने मात्र अपनी ही जाति को परतंत्रता–पाश से मुक्त कराने हेतु शत्रुओं से मोर्चा लिया हो।

यही कारण है कि वर्तमान में एक सर्वथा नई बात यह देखने में आ रही है कि पूर्वकाल में जो जातियाँ अपने को ऊँचा कहलाना पसन्द करती थीं और जिन्हें अपनी उस तथाकथित ऊँचाई पर गर्व भी होता था वही जातियाँ अब विशुद्ध आर्थिक व राजनैतिक कारणों से स्वयं को निम्न जाति कहलाना चाह रही हैं। इन प्रश्नों के उत्तर हम तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि हमें यह ज्ञात न हो कि 'दलित' शब्द का अर्थ क्या है?

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

'दलित' शब्द का अर्थ दबाए गए, कुचले गए, पीड़ित किए गए, विपत्तिग्रस्त, शोषित अथवा प्रताड़ित व्यक्ति से है और इस अर्थ में तथाकथित जाति–विशेष या वर्ग–विशेष की कोई अवस्थिति नहीं है। ऐसे दबे–कुचले, सर्वतोभावेन प्रपीड़ित व्यक्ति की पीड़ा का जिस साहित्य में मार्मिक चित्रण हो या जो साहित्य ऐसे व्यक्ति से सम्बन्धित हो उसे 'दलित साहित्य' अभिधान से अभिहित किया जा सकता है, 'दलित' शब्द के इस अर्थ व 'दलित साहित्य' की उपर्युक्त परिभाषा के संदर्भ में यह कहना किसी भी प्रकार अनुचित नहीं होगा कि संसार का प्रथम काव्य 'रामायण' प्रथम दलित साहित्य भी है क्योंकि इसमें समाज द्वारा प्रताड़ित एक नारी की वेदना के मार्मिक चित्रण के साथ अन्यान्य कारुणिक प्रसंगों का भी चित्रण हुआ है।

दूसरी ओर आज आलोचकों द्वारा सामान्यतः दलित साहित्य उस साहित्य को कहा जा रहा है जो तथाकथित दलित जाति के लोगों द्वारा रचा गया होता है। इसकी एक विशेषता यह भी बताई गई है कि यह साहित्य उनके हितों के प्रति प्रतिबद्ध होता है और उसमें उनकी समस्याओं को उजागर भी किया जाता है। वैसे वास्तविकता यह है कि दलित–साहित्य से सम्बन्धित अवधारणाएँ अभी स्पष्ट नही हैं। और अभी आलोचक आधिकारिक रूप से यह कहने की स्थिति में नही हैं कि दलित साहित्य के प्रतिमान क्या हैं? साथ ही दलित साहित्य सम्बन्धी आलोचकों के उपर्युक्त विचारों में साहित्य के इतिहास के संदर्भ में स्पष्टतया विरोधाभास भी दिखाई देता है। यदि दलित साहित्य तथाकथित दलित जाति के लोगों द्वारा रचित साहित्य ही है तो रैदास, दादू, पीपा, धर्मदास, मलूकदास इत्यादि द्वारा रचित साहित्य दलित–साहित्य क्यों नहीं कहा जाता या फिर प्रेमचन्द्र, फणीश्वरनाथ रेणु, निराला प्रभृति साहित्यकारों ने अपने जिस साहित्य के माध्यम से दलितों की समस्याओं की वाणी दी और उनके हितों के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की वह साहित्य दलित–साहित्य की सीमान्तर्गत क्यों नहीं है?

दलितों की एक त्रासदी और रही है कि जब–जब उनके किसी आंदोलन का नेतृत्व गैर दलितों के हाथों में हाता है वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व ही समझौतावाद के दलदल में जाकर समाप्त हो जाता है, अपनी तमाम प्रगतिशीलता और मानवीय उदारता के बावजूद जाति की स्थिति आते ही दलित हितों की बात छोड़ अपनी जाति की भावनाओं के साथ जुड़ जाते हैं। जगदीश चन्द्र के 'धरती ध्न न अपना' का डॉक्टर बिसनदास प्रगतिशील कम्युनिस्ट कॉमरेड का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल पोथीनिष्ठ सिद्धान्तों की बात करते हैं और किताबी व बौद्धिक बहसों के जरिए क्रान्ति लाने का सपना देखते हैं। इसलिए इन्सानियत के प्रति उतना दर्द उनके दिमाग में नहीं है जितना किताबी मार्क्सवाद है। चमारों को जरूरत है अनाज की, ताकि वे जिन्दा रहकर अपना संघर्ष जारी रख सकें जबकि बिसनदास और टहला सिंह अनाज की व्यवस्था के बजाय उनके लिए जलसा करने का प्रस्ताव करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो उनकी इस त्रासदी का हल खोजने की बजाय राजनीति करते हैं। इतना जरूर होता है कि व्यक्ति–व्यक्ति के बीच द्वन्द्व में बिसनदास इन्सानियत का परिचय देकर काली का पक्ष लेते हुए चौधरी के लड़के को फटकार लगाता है और काली का इलाज करने उसके घर तक जाता है। लेकिन जाति–द्वन्द्व के समय वही बिसनदास अपनी जाति की भावनाओं के साथ ही जुड़ता है और मानवीयता को ताख पर रखकर काली को अनाज देने से इंकार कर देता है। दलितों का मन्दिर–प्रवेश भी इसी समझौतावाद का एक रूप है। दलित आंदोलन करता है मानवीय समता और सम्मान के लिए, इसके लिए वह चाहता है, विषमतामूलक ब्राह्मणवाद अर्थात् हिन्दुत्व से मुक्ति। वह नकराना चाहता है भाग्य और भगवान को, और स्वीकारना चाहता है ''अप्प दीपो भव'' के कल्याणकारी सूत्र को। किन्तु उसको ढकेल दिया जाता है मन्दिर की दहलीज के अन्दर जहाँ किसी भगवान या देवी–देवता के

आगे नत–मस्तक हो वह 'अप्प दीपो भव' के विश्वास को छोड़ 'तमसो मा ज्योर्तिगमय' की याचना करने लगता है। महाराष्ट्र में कालाराम मन्दिर में प्रवेश के लिए आन्दोलन एक समय में बाबा साहब अम्बेडकर ने भी चलाया था किन्तु इसकी निस्सारता भी वह शीघ्र ही समझ गये थे और उन्होंने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। दलित चेतना का यह पक्ष हिन्दी उपन्यासों में कहीं दृष्टिगोचर नही होता। ऐसा भी होता है कि दलितों का नेतृत्व करने वाले सवर्ण लोग ऐसे समझौते कर लेते हैं जिसमें दलितों का हित कम उनका अपना हित ज्यादा सधता है। 'धरती धन न अपना' में दलितों में धर्मान्तरण की चेतना दिखाई पड़ती है जिसमें चमारों के प्रति सवर्णों के छुआछूत और भेदभाव पूर्ण व्यवहार से तंग आकर नन्द सिंह ईसाई बन जाता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सीधी–सच्ची बातें' की मिस मण्डल हिन्दू धर्म की जाति व्यवस्था और छुआछूत से निजात पाने के लिए धर्मान्तरण करती हैं और ईसाई बन जाती हैं। किन्तु ईसाई बन जाने से भी उनकी सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। सवर्ण समाज उनके साथ पूर्ववत् व्यवहार ही करता है। बाला दुबे के उपन्यास 'मकान–दर–मकान' में किस्नों और द्वारका भी ईसाई बन जाते हैं। कहने के लिए वे भंगी या चमार नहीं रहे, पर यथार्थ में ऐसा नहीं होता। अस्पताल में उनको नौकरी मिलती है तो झाड़ू–पोंछा लगाने की ही, कुछ उपन्यासों में दलितों द्वारा धर्मान्तरण कर मुसलमान बनने के भी उल्लेख हैं, किन्तु ईसाई या मुसलमान बनना दलितों की सामाजिक समस्या का कोई ठोस समाधान नहीं है। यह कुएँ से निकलकर खड्डा में जा गिरना है। धर्मान्तरण के नाम पर दलितों का ईसाई या इस्लाम धर्म ग्रहण करने के चित्रण के पीछे मूल मानसिकता बौद्ध धर्म से दलितों का ध्यान हटाने की दिखाई देती है ताकि दलित अपने मसीहा डॉ0 भीमराव अम्बेडकर क विचारधारा से कट जाएँ और एक सांस्कृतिक शक्ति के रूप में संगठित न हो सकें।

'रागदरबारी' के लंगड़ की बाबू के साथ हुज्जत को धर्म की लड़ाई कहना या दलितों में से ही अपने पण्डित बनने की घटनाएँ दलितों को श्रेष्ठत्व प्रदान नहीं करती हैं। बल्कि धर्म की घुट्टी पिलाकर उनकी क्रांति– चेतना को अवरुद्ध और कुन्द करती हैं। गोपाल उपाध्याय के उपन्यास 'एक टुकड़ा इतिहास' में बलेसर रैदास का लड़का बहुत बड़ा जनेऊ पहनता है। यह भी अन्य उपन्यासों की तरह दलितों की चेतना से अलग उनको हिन्दुत्व से गहरे तक जोड़ने का ही प्रयास है।

यह कहना भी कि स्वाधीनता आन्दोलन में दलितों का कोई योगदान नहीं है, एक बहुत बड़े सत्य को झुठलाना है। मातादीन भंगी, रामपत चमार, करिया मुण्डा, तिलकामांझी और झलकारी बाई से लेकर उधम सिंह तक सैकड़ों दलित वीर–वीरांगनाओं ने देश के स्वाधीनता आन्दोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया तथा अपने प्राणों तक का उत्सर्ग किया। किन्तु वर्णवादी मानसिकता के चलते देश के लिए दलितों के बलदान को न केवल महत्व नहीं दिया गया, अपितु उसकी पूरी तरह उपेक्षा भी की गई। इन वर्णवादी लेखकों की दृष्टि में हिन्दुत्व के उन्नायक तो राष्ट्रभक्त और राष्ट्रनायक है किन्तु राष्ट्र की अस्मिता, अस्तित्व और सम्प्रभुता के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने वाले दलित देश–भक्तों का इतिहास के पन्नों में कहीं कोई जिक्र तक नहीं होता।

'रागदरबारी' उपन्यास में लंगड़ और सनीचर दो दलित पात्र हैं। दोनों दीन–हीन हैं। लंगड़ अपनी औलाद की उम्र के बद्री, रंगनाथ और रूप्पन सबको 'बापू' कहकर पुकारता है। वह शायद कबीरपंथी है– गले में कण्ठी पहने रहता है। तहसील से एक छोटी सी नकल लेने के लिए कई साल तक बाबू उसे बेवकूफ बनाता है और लंगड़ इसे धर्म की लड़ाई कहता हे। सनीचर बैद्य जी की बैठक में भंग घोटता है, उनका सेवक

है। जो कोई भी जब चाहे तब उसे दुत्कार देता है और वह केवल ही–ही कर रह जाता है। स्वाभिमान तो उसके अन्दर है ही नहीं।

निराला के उपन्यास 'कुल्ली भाट' का कुल्ली भी लंगड़ और सनीचर की तरह ही दीनता और हीनता–बोध का शिकार है। कुल्ली से कहे गए लेखिक के इन शब्दों से कुल्ली की स्थिति को भलीभाँति समझा जा सकता है, ''जब आप मुझे इतना..... तब शुक्ल जी तो .....मैं तो उसके चरणों तक ही पहुँचता हूँ।'' जबकि कुल्ली शुक्लजी के यानी पं0 देवीदत्त शुक्ल के बड़े भाई जैसे थे। ऐसे में शुक्ल जी को कुल्ली के प्रति सम्मान और श्रद्धा व्यक्त करनी चाहिए, लेकिन उपर्युक्त वाक्य यह स्पष्ट करता है कि शुक्ल जी नहीं कुल्ली ही शुक्ल जी का सम्मान करते हैं और इतनी दीनता से दबकर करते हैं कि लेखक भी अचम्भित हो जाता है। कुल्ली की इस दीनता और अपने से छोटे शुक्ल जी के प्रति इतने सम्मान का कारण कुल्ली के अन्दर समाई जातीय हीनता है। कुल्ली को इस जातीय हनता से उबारने का कोई प्रयास उपन्यास में दिखाई नहीं देता। दूसरे कई उपन्यासों की तरह इस उपन्यास में भी कुल्ली के वर्णन में उसकी इस दीनता और हीनता को उसकी विनम्रता यानी उसके गुण के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह भारतीय हिन्दू–समाज व्यवसथा की क्रूर अमानवीयता पर पर्दा डालने जैसा है। इसके अलावा कुल्ली की मृत्यु के पश्चात गृहशान्ति के लिए लेखक स्वयं कुल्ली के घर जाकर अपने हाथों से हवन कराता है। निराला जी के सिद्धान्त और व्यवहार का द्वैत यहाँ उजागर हो जाता है। जिन सामाजिक पाखण्डों के विरोध की बात करके वह प्रगतिशील बनते हैं, परिवार–शुद्धि के लिए स्वयं हवन का पाखण्ड करते हैं अकेले निराला नहीं अधिकांश तथाकथित प्रगतिशीलों की हालत यही मिलेगी। सिद्धान्त रूप में जिन विसंगतियों और विकृतियों के खिलाफ गला फाड़–फाड़ कर चीखेंगे लेकिन व्यवहारिक जीवन में उन्हीं को जिएंगे और भोले–भाले दलितों का परम्परा के उसी इन्द्रजाल में उलझाए रहेंगे।

'गोदान' को गोबर और 'धरती धन न अपना' का काली गाँव से शहर जाते हैं, किन्तु फिर वापस गाँव लौट आते हैं। शहर से गाँव वापस लौटने की ये घटनाएँ इस बात की ओर इंगित करती हैं कि दलितों के लिए शहरों की अपेक्षा गाँव ज्यादा अनुकूल है। डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों का आह्वान किया था कि जहाँ वे अल्पसंख्या में हैं, गाँव छोड़कर शहरों की ओर प्रयाण करें क्योंकि दलितों के साथ जुल्म और ज्यादती गाँवों में ही ज्यादा होती है और गाँवों में कोई सुनवाई नहीं होती है। जबकि शहरों में पुलिस थाने और दूसरी एजेन्सियाँ हैं, आवश्यकता पड़ने पर उन तक सहजता से पहुँचा जा सकता है। इन उपन्यासों के जरिए एक गलत सन्देश देने की कोशिश की गई है। जबकि व्यवहारिक सत्य यह है कि एक शोषित, पीड़ित, दलित एक बार गाँव छोड़कर शहर आ जाने पर नारकीय जीवन जीने के लिए वापस गाँव नहीं लौटता है। 'धरती धन न अपना' में कली पुनः गाँव छोड़कर जाता भी है तो चौधरियों के शोषण व अत्याचार से विद्रोह करके नहीं अपनी प्रेमिका ज्ञानों की हत्या कर दिए जाने से दुःखी होने पर ही। दलित चेतना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतः यह कह सकते हैं कि सदियों से शोषित, प्रताड़ित एवं उपेक्षित लोकसमुदायों की अंतर्मन की अथाह चेतना और विद्रोह व्यक्त करने वाली साहित्यधारा दलित साहित्य है। इसमें स्वजनों द्वारा ही निर्धन, निर्बलों पर हुए अन्याय, अत्याचार, आतंक तथा आक्रोश का निर्मम निरावरण एवं वास्तविक चित्रण है। पीढ़ियों से श्रेष्ठ ठहराये गये सवर्णों की दीन दलितों के प्रति विकृत मानसिकता लज्जा को भी लज्जित करने वाले अमानवीय व्यवहार और विषमता के पाटों में समता के लिए छटपटाता दलित जीवन दलित साहित्य के वर्ण्य विषय हैं।

विश्व में दलित साहित्य का वृहत् एवं बहुआयामी स्वरूप केवल भारत में दिखाई देता है। कोटि दीनदलितों के उद्धारक तथा भारतीय संविधान के रचयिता डॉ0 बाबासाहब अम्बेडकर भारतीय दलित साहित्य की मूल प्रेरणा है, तथा वे ही जीवन, साहित्य एवं संस्कृति के ऊर्जा स्रोत है। कबीर, फूले, रैदास, तुकाराम, नामदेव बसवेश्वर जैसे महात्माओं की दिव्य वाणी दलित साहित्य की संजीवनी है। युगपुरुष डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व एवं कृतित्व से आत्मसम्मानित बने तथा सदियों से दबाये गये दलितों का हृदयरुदन ही दलित साहित्य है, जो 19वीं शताब्दी में सर्वप्रथम महाराष्ट्र में उमड़ पड़ा। डॉ0 गंगाधर पानतावणे द्वारा 'अस्मितादर्श, ने अनेक दलित प्रतिभाएँ साहित्य जगत को दी। अनेक कृतियाँ सम्मानित हुईं। अनेकों भारतीय भाषाओं में अनूदित हुई। इनमें अग्रणी है फकिरा (अण्णभाऊ साठ), बलुत (दया पवार), यादों के पंछी (प्र0ई0 सोनकांबले), पत्थर कटवा (लक्ष्मण गायकवाड़), उपरा (लक्ष्मण माने), अक्कर माशी (शरणकुमार लिम्बाले), छोरा कोल्हाटीका (किशोर काले), तराल अंतराल (शंकरराव खरात), मुक्काम पोस्ट देवा के गोठणे (माधव कोडविलकर), मेरे जन्म की चित्तर कथा (शांताबाई काम्बले), हकीकत और जटायू (केशव मेश्राम), घूँट भर पानी (प्रेमानंद गाज्वी), छावणी हिल रही है (वामन निंबालकर), उत्थान गुंफा (यशवंत मनोहर), दिशा (ज्योति लांजेवार), तीन पत्थरों का चूल्हा (विमल मोरे), ढोर (भगवान इंगले), भंडार भोग (राजन गवस), वतनवालों दास्तां तुम्हारी है (बासुदेव सोनवणे) इत्यादि।

महाराष्ट्र की नींव पर खड़े दलित साहित्य ने समूचे भारतवर्ष में अपनी साहित्यक सीमाएँ विस्तारित की हैं। इनमें मुख्य हैं मध्य प्रदेश, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, कन्नड़, तमिल, उड़िया, आंध्र, केरल। हिन्दी साहित्य में नागार्जुन, रेणू, नेमिशराय, नरेश मेहता, सुखलाल, जय प्रकाश कर्दम जैसे नाम 'मैं भंगी हूँ' 'बलचमा', छप्पर, जूठन अपने अपने पिंजड़े, शबरी कृतियों के साथ चर्चित हैं सतींद्र सिंह, गुरूदयाल सिंह, प्रेमगोरखी इन पंजाबी हस्ताक्षरों के संग बुदण्ण हिमगिरे, इनाम अवलिका, रंगनायकम्प, ओ0पी0 विजयन नम्बुदिरिका जैसी प्रतिभाएँ कर्नाटक, उड़िया, मलयालम दलित साहित्य में सक्रिय हैं। सदियों से नकारे गये, आदिवासी बहुजनों का दलित साहित्य मंगलमयी मूल्यों तथा सत्याभिव्यक्ति के कारण भारत एवं भारतेतर देशों के साहित्य में सम्मानित हो रहा है युगीन प्रवृत्तियों को परिलक्षित और उन्हें मानवता की ओर प्रवृत्त कर रहा है यही इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कुल्ली भाट– सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
2. गोदान– मुंशी प्रेमचन्द
3. धरती धन न अपना – जगदीशचन्द्र
4. शबरी– नरेश मेहता
5. जूठन–
6. मैं भंगी हूँ–
7. हंस पत्रिका दलित विमर्श विशेषांक।